गायत्री मंत्र के रे अक्षर की व्याख्या

गृहलक्ष्मी की प्रतिष्ठा

गृह लक्ष्मी की प्रतिष्ठा

गायत्री मंत्र का छठा अक्षर 'रे' गृह लक्ष्मी के रूप में नारी की प्रतिष्ठा की शिक्षा देता है–

रे रेव निर्मला नारी पूजनीया सता सदा।
यतो हि सैव लोकोऽस्मिन साक्षाल्लक्ष्मी मता बुधै ।।

अर्थात्–"नारी सदैव नदी के समान निर्मल है । वह पूजनीय है, क्योंकि संसार में उसे साक्षात् लक्ष्मी माना गया है ।"

जैसे नर्मदा का जल सदा निर्मल रहता है उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को स्वभावतः निर्मल अन्तःकरण दिया है । परिस्थिति के दोषों के कारण अथवा दुष्ट संगति के प्रभाव से उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर यदि कारणों को बदल दिया जाय तो नारी हृदय पुनः अपनी शाश्वत निर्मलता पर लौट आता है ।

नारी लक्ष्मी का अवतार है । भगवान मनु स्पष्ट शब्दों में कह गये हैं कि जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं । अर्थात् उस स्थान में सुख, शान्ति का निवास रहता है । सम्मानित और संतुष्ट नारी अनेक सुविधाओं और सुव्यवस्थाओं का घर बन जाती है, उसके साथ गरीबी में भी अमीरी का आनन्द बरसता है । धन,. दौलत तो निर्जीव लक्ष्मी है, किन्तु स्त्री तो लक्ष्मी की सजीव प्रतिमा है । उसके समुचित आदर, सहयोग और संतोष का सदैव ध्यान रखना चाहिए ।

नारी में नर की अपेक्षा दयालुता, उदारता, सेवा, परमार्थ और पवित्रता की भावनाएँ अधिक होती हैं । उसका कार्य क्षेत्र संकुचित करके घर तक ही सीमाबद्ध कर देने के कारण संसार में स्वार्थपरता, निष्ठुरता, हिंसा, अनीति और विलासिता की बाढ़ आई है । यदि राष्ट्र और समाज की बागडोर नारियों के हाथ में हो तो उनका मातृ–हृदय अपने सौजन्य और सहृदयता के कारण सर्वत्र सुख–शान्ति की स्थापना कर सकता है ।

नारी के द्वारा अनन्त उपकार और असाधारण सहयोग प्राप्त करने के

उपरान्त नर का यह पवित्र उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह उसे स्वावलम्बी, सुशिक्षित, स्वस्थ, प्रसन्न और संतुष्ट बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। उसके साथ कठोर अथवा अपमानजनक व्यवहार किसी प्रकार उचित नहीं।

नारी के सहयोग के बिना नर अपूर्ण रहता है

प्रत्येक जीव के जीवन में यौवन के उभार के समय एक ऐसा अवसर आता है, जब वह धीरे-धीरे इस बात का अनुभव करने लगता है कि उसके पास कुछ वस्तुओं, गुणों, स्वाभाविक विशेषताओं की कमी है। पुरुष में यौवन का उभार आने पर जहाँ पुरुषत्व विकसित होता है, वहाँ उसके अन्तर्मन में कामावेग भी उत्पन्न होता है। वह किसी पर अधिकार करने के लिए प्रेमोपासना करने लगता है, पुरुष स्त्री की ओर सहज भाव से रस लेने लगता है। उसमें उसे कुछ अजीब आकर्षण प्रतीत होने लगता है। उसके हाव-भाव उसे आकर्षक लगते हैं। इसी प्रकार नारी जीवन में भी प्रणय की गुप्त इच्छाएँ धीरे-धीरे विकसित होने लगती हैं। अपनी कोमलता, तितिक्षा, कला, लज्जा इत्यादि के कारण वह मनोभावों के आत्म समर्पण के लिए उन्मुख होती है। वह अपने भेद गुप्त रखने में कुशल होती है किन्तु उसका सहज ज्ञान क्रमशः प्रकट होने लगता है। नर-नारी की ये स्वभावगत विशेषताएँ हैं, जो समाज का निर्माण करती हैं।

पृथक-पृथक स्त्री-पुरुष अधूरे और अपूर्ण हैं। यदि स्त्री-पुरुष पृथक रहेंगे, तो वे समाज के लिए अनुपयोगी, अपरिपक्व, अविकसित रहेंगे। स्त्री और पुरुष दोनों के मिलने से नर-नारी की स्वाभाविक अपूर्णता दूर होती है। एक-दूसरे की कमी जीवन-सहचर प्राप्त करने से ही दूर हो पाती है। जैसे धनात्मक और ऋणात्मक तत्वों के मिलने से विश्व बनता है, वैसे ही स्त्री और पुरुष के मिलने से 'मनुष्य' बनता है। यही पूरा मनुष्य-समाज के उत्तरदायित्वों को पूरा करता है।

विवाह की उपयोगिता

आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं को पूरा करने का मार्ग दर्शाता है, उनका दमन मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न करता है। इसीसे अनेक बार मानसिक नपुंसकता उत्पन्न होती है। मनुष्य के अन्तस्थल में अनेक वासनाएँ दब कर अन्तःप्रदेश में छिप जाती हैं। इनसे समय-समय पर अनेक बेढंगे

व्यवहार, गाली देने की प्रवृत्ति, स्मरण–विस्मरण, पागलपन तथा प्रलाप, हिस्टीरिया आदि अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । मानसिक व्यापारों में एक विचित्र प्रकार का संघर्ष चला करता है । मन की अनेक भावनाएँ विकसित नहीं हो पातीं, मनुष्य शिकायत करने की मनोवृत्ति का शिकार बना रहता है । दूसरे के प्रति वह अनुदार रहता है, उसकी कटु आलोचना किया करता है । अधिक उग्र या असन्तोषी, नाराज प्रकृति, तेज स्वभाव का कारण वासनाओं का समुचित विकास एवं परिष्कार न होना ही है । इस प्रकार का जीवन गीता में निंद्य माना गया है ।

प्रत्येक स्त्री–पुरुष के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब उसे अपने जीवन साथी की तलाश करनी होती है । आयु, विचार, भावना स्थिति के अनुसार सद्‌गृहस्थ के लिए उचित जीवन साथी की तलाश होनी चाहिए । उचित शिक्षा एवं आध्यात्मिक विकास के पश्चात् किया हुआ विवाह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है । आजन्म कौमार्य या ब्रह्मचर्य महान है । उनका फल अमित है किन्तु साधारण स्त्री–पुरुषों के लिए यह सम्भव नहीं है । इससे मन की अनेक कोमल भावनाओं का उचित विकास एवं परिष्कार नहीं हो पाता । वासना को उच्चस्तर एवं उन्नत भूमिका में ले जाने के लिए एक–एक सीढ़ी चढ़कर चलना होता है । एक सीढ़ी लाँघ कर दूसरी पर कूद जाना कुछ इच्छाओं का दमन अवश्य करेगा, जिसके फलस्वरूप मानसिक व्याधि हो सकती है । अतः प्रत्येक सीढ़ी पर पाँव रखकर उन्नत जीवन पर पहुँचना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए ।

एक पिता तथा माता के हृदय में जो नाना प्रकार के स्वर झंकृत होते हैं, उन्हें भुक्त–भोगी ही जान सकता है । दो हृदयों के पारस्परिक मिलन से जो मानसिक विकास सम्भव है, वह पुस्तकों के शुष्क अध्ययन से नहीं प्राप्त किया जा सकता । विवाह काम वासना की तृप्ति का साधन मात्र है, ऐसा समझना भयंकर भूल है । वह तो दो आत्माओं, दो मस्तिष्कों, दो हृदयों और साथ ही साथ दो शरीरों के विकास, एक–दूसरे में लय होने का मार्ग है । विवाह का मर्म दो आत्माओं का स्वरैक्य है, हृदयों का अनुष्ठान है, प्रेम, सहानुभूति, कोमलता, पवित्र भावनाओं का विकास है । यदि हम चाहते हैं कि पुरुष–प्रकृति तथा स्त्री–प्रकृति का पूरा–पूरा विकास हो, हमारा व्यक्तित्व पूर्ण रूप से खिल सके तो हमें अनुकूल विचार, बुद्धि, शिक्षा एवं धर्म

वाली सहधर्मिणी चुननी चाहिए । उचित वय में विवाहित व्यक्ति आगे चलकर प्रायः सुशील, आज्ञाकारी, प्रसन्नचित्त, सरल, मिलनसार, साफ–सुथरे, शान्तचित्त, वचन के पक्के, सहानुभूतिपूर्ण, मधुरभाषी, आत्म विश्वासी और दीर्घजीवी पाये जाते हैं ।

विवाह आत्म–विकास का प्रधान साधन है ?

हिन्दू धर्म में जिन षोडश संस्कारों का विधान है उनका ध्येय मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर उन्मुख करना है । वह जैसे–जैसे बड़ा होता है उसका आत्म–भाव उभरता है और आत्म विस्तार प्रारम्भ होता है । ज्यों–ज्यों वह आत्म–दमन करता है, अपने ऊपर नियन्त्रण लगाता है, त्याग करता है, त्यों–त्यों उसमें आत्मीयता का भाव बढ़ता जाता है । बड़ा होने पर उसका विवाह संस्कार होता है । यह होने पर मनुष्य के ऊपर अनेक जिम्मेदारियाँ आ पड़ती हैं । यहाँ तो देह–भाव–विलोपन और आत्म–बलिदान का पाठ पूरा–पूरा सीखना पड़ता है । कालान्तर में जो सन्तान प्राप्त होती है, उसकी सेवा बिना आत्म–त्याग और बलिदान के सम्भव नहीं । साथ–साथ अपने जीवन सहचर के व्यक्तित्व में जो अपने व्यक्तित्व को मिलाना होता है–वह भी बिना आत्मोत्सर्ग के सम्भव नहीं । कदाचित् अपने जीवन–सहचर के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को हमें विलीन भी करना पड़ता है–'होमना भी पड़ता है और यह देह–भाव को बनाए रखकर नहीं बन सकता । इस जीवन में तो इच्छा निरोध, आत्म–संयम की पूरी–पूरी साधना करनी पड़ती है क्योंकि बिना इसके अपने जीवन–सहचर के साथ पूर्णतया घुल–मिल जाना नहीं बनता । अतएव विवाह में आत्म विलीनीकरण परमावश्यक है और यह आत्म–विलीनीकरण देह–भाव का यह उच्छेद–पशुत्व को दबाने और देवत्व को जगाने का एक साधन है । अतएव विवाह पशुत्व से देवत्व की ओर बढ़ने का एक मार्ग है ।

विवाह भौतिक दृष्टि के अतिरिक्त, आध्यात्मिक जीवन के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी जीव के बाल्यकाल के पश्चात् स्वाभाविक रूप से ही आवश्यक है । बाल्यकाल के उपरान्त आध्यात्मिक सोपान पर आगे चढ़ने के लिए जो अगली सीढ़ी हो सकती है–वह विवाह–बन्धन ही है । बाल्यकाल के उपरान्त एकदम संन्यास धर्म में पहुँचना सब के लिए सरल नहीं और न अपेक्षित ही है । बाल्यकाल में सदा खाते–पीते, सोते–जागते सुखों का उपभोग

ही होता है–इन्द्रियों की तृप्ति का प्रयत्न ही चलता रहता है । इच्छाओं का निरोध नहीं होता, किन्तु इसके ठीक विपरीत संन्यास में एकदम त्याग ही त्याग है । अतएव विवाह ही एक ऐसी बीच की अवस्था है जो मनुष्य को विरक्ति और भोग की अवस्था के ठीक बीचो–बीच रखकर विरक्ति और त्याग के साथ–साथ ही सुख–भोग की शिक्षा देती है । मध्यम मार्ग इस जीवन में ही संभव है । राग–द्वेष से विमुक्त होकर सुखोपभोग करना इस जीवन के अतिरिक्त न तो बाल्यावस्था में संभव है और न संन्यासावस्था में । इसलिए विवाह एक पवित्र बंधन है और विवाहित जीवन को योग्यतापूर्वक निबाहने में ही मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण है ।

सफल विवाहित जीवन ईश्वर से सम्मिलन की पूर्वावस्था है । जायसी आदि संतों ने ईश्वर–प्रेम कैसा होना चाहिए उसकी एक क्षुद्र झाँकी पति–पत्नी के प्रेम को माना है । जब लौकिक प्रेम के निबाहने में इतने बलिदान की आवश्यकता होती है तो ईश्वर प्रेम तो फिर सिर का सौदा है, सिर हथेली पर रखकर चलना है ।अतएव लौकिक प्रेम ही ईश्वर से सामीप्य लाभ करने का मार्ग प्रशस्त करता है । तैत्तरीयोपनिषद् में तो "प्रजातंतु मा व्यवच्छेत्सीः" ऐसा उपदेश है । अतएव जहाँ पवित्र जीवन है वहाँ पापमय उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है ? फिर हम ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भी सत्यकाम जाबाल और समुम्वारैक्य जैसे ब्रह्म ज्ञानियों को भी विवाह करते देखते हैं । इससे भी विवाहित जीवन की पवित्रता ही प्रतिपादित होती है । केवल आत्म–संयम का होना न होना ही विवाहित जीवन को पवित्र या अपवित्र बना देता है । पुनश्च भगवान कृष्ण ने भी तो कहा है "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" अर्थात् प्राणियों में स्थित मैं धर्म अविरुद्ध काम हूँ ।

ऋग्वेद का वचन है–

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसाहसति ।।

अर्थात–हमारा आचरण समान हो, हमारे हृदय समान हों, हमारे मन समान हों और हम एक–दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहें ।" यदि हम अपने जीवन–सहचर के साथ भी एकात्मता और अभिन्नता का अनुभव नहीं कर सकते तो वेद में वर्णित समाज के साथ इतनी अभिन्नता हो सकना

तो बहुत दूर की बात है । इस दृष्टि से भी विचार करें तो विवाह बन्धन उत्कृष्ट सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिए उत्तम शिक्षण–स्थल है । विवाह आध्यात्मिक विकास के लिए सुअवसर प्रदान करता है ।

विवाहित जीवन बहुतों के लिए दुःखमय प्रतीत होता है । किन्तु इसका कारण केवल आत्म–संयम और पुरुषार्थ की कमी है । कठिनाइयाँ केवल हमारी चरितगत तथा पुरुषार्थ संबंधी न्यूनताओं की ओर ही सन्केत करती हैं और मानों हमें उन पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्बोधित करती हैं । जो लोग पलायन–मनोवृत्ति लेकर विवाह–बन्धन से बच निकलते हैं वे दुःख और कठिनाइयों से भी भले ही बच निकलें, किन्तु कठिनाइयों से बच निकलना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है । इससे उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती । जीवन का लक्ष्य है अपनी आत्म–शक्ति बढ़ाना और अपनी उन चरित्रगत तथा पुरुषार्थ संबंधी न्यूनताओं को दूर करना, जो कठिनाइयों को जन्म देती हैं और जिनके रहते हुए कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं । विवाहित जीवन की उपेक्षा कर तथा अपनी चरित्रगत न्यूनताओं के ज्ञान से अपरिचित रहकर पूर्ण आनन्द भोगने का दावा करना भ्रम मात्र है । पूर्ण आनन्द तो पूर्णतया पुरुषार्थी ओर दोष–मुक्त होने पर ही प्राप्त हो सकता है । विवाह पुरुषार्थी और पूर्णतया दोष–मुक्त होने का बढ़िया साधन है । अतएव जिनके जीवन में कोई दोष नहीं है और जो पूर्ण पुरुषार्थी हैं केवल वे ही इस बीच की सीढ़ी–विवाहित जीवन की उपेक्षा करने के अधिकारी हैं, क्योंकि उनको विवाहित जीवन फल आत्म–विजय पहले प्राप्त ही रहता है ।

मनुष्य ने अपने विकास काल में जिस सर्वोत्तम तत्व को विकसित किया है, वह माता–पिता का हृदय ही है । इसमें जिस सुकोमलता का निवास है वह मनुष्य को देवोपम बना सकती है । इसी के कारण मनुष्य इस हिंसक विश्व में सर्वोपरि सुशोभित हो रहा है । इस प्रेम–मय हृदय की प्राप्ति के लिए विवाह ही द्वार को उन्मुक्त करता है ।

हमारा वैवाहिक जीवन कैसे सुखी हो सकता है ?

विवाह को आत्म–विकास और चरित्र विकास का एक बड़ा साधन माना गया है । इसमें सन्देह नहीं कि विवाह हमारी जीवन–यात्रा में एक बहुत बड़े मोड़ या परिवर्तन की तरह होता है । इसलिए यदि उसे पूर्ण सफल और सुखी बनाना है तो उसके संबंध में पहले ही से पर्याप्त जानकारी प्राप्त

कर लेना हमारा कर्तव्य है । खेद है कि आजकल अनेक नवयुवक और नवयुवतियाँ इस नियम पर ध्यान न देकर केवल क्षणिक आवेश में अथवा ऊपरी टीमटाम को देखकर विवाह सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं । जिसका अन्तिम परिणाम स्वभावतः दुखदाई होता है ।

सफल विवाहित जीवन मनुष्य के सुख की एक आधार शिला है । यदि सच्चा दाम्पत्य प्रेम हुआ तो वह दोनों की अन्तरात्मा का केवल विकास ही नहीं करता, वरन् उसमें निहित उस अमूल्य भावना की सिद्धि का कारण होता है जो पुरुष नारी के प्रति तथा नारी पुरुष के प्रति अनुभव करती है । वास्तव में सच्चे दाम्पत्य प्रेम का आधार ही सुखी वैवाहिक जीवन है । अब हमें देखना है कि इस सुखी वैवाहिक जीवन के मूल तत्त्व क्या हैं ? सच तो यह है कि वैवाहिक आनन्द का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है ओर न कोई ऐसा निरपेक्ष नियम है जिसके अनुसार इस अत्यन्त कलापूर्ण क्षेत्र में मानवीय सम्बन्धों का नियन्त्रण होता हो । अनेक स्त्री और पुरुष ऐसे जीवन में भी सुखी रहते हैं जो अन्य स्त्री–पुरुषों के दुःख और निरुत्साह का कारण बन जाता है । कई दम्पत्ति सन्तान के अभाव में दुःखी हैं, तो कई बिना सन्तान के ही पूर्ण सुखी हैं । कई अपनी गरीबी में सुखी हैं तो कईयों की आर्थिक अवस्था ही उनके दुःख की जड़ है । शारीरिक प्रतिकूलता जहाँ एक दम्पत्ति के दुःख का कारण है, वहीं दूसरे के सुन्दर सहयोग का आधार है । अनेक बातें ऐसी हैं, जिनको वैवाहिक जीवन के आरम्भ में कोई महत्व नहीं दिया जाता, परन्तु समय बीतने पर वे ही सुख या दुःख का कारण बन जाती हैं । अनेक दम्पत्ति जो आरंभ में सब प्रकार से सुखी होते हैं बाद को दुःखी रहने लगते हैं, क्योंकि मनुष्यों का मानसिक और आध्यात्मिक विकास विभिन्न गतियों से होता है ।

उपरोक्त बातों के होते हुए भी सुखी वैवाहिक जीवन की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ हैं और वे इस प्रकार हैं–वैवाहिक बन्धन में बँधने वाले दोनों साथियों में एक–दूसरे के आत्म–सम्मान की ठोस बुद्धि, मानसिक परिपक्वता, शारीरिक स्वास्थ्य, दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता, प्रेमकला तथा लैंगिक ज्ञान, पारिवारिक उत्तरदायित्व की परिपक्व भावना, वस्तुस्थिति के अनुकूल आचरण करने की योग्यता, काल्पनिक आदर्श से मुक्ति, विस्तृत एवं उदार मानवीय प्रवृत्ति तथा सहयोग के आधार पर आगे बढ़ने, कष्ट उठाने और

जीवन–सुख में भाग लेने की क्षमता आदि । ये ही दिन–प्रतिदिन की वैवाहिक समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाने के मूल मन्त्र हैं । अपने वैवाहिक साथी की परिस्थिति से पूर्ण आत्मीयता तथा उसे निरन्तर उत्साहित करते रहने की तत्परता, दाम्पत्य जीवन की साधारण बाधाओं को सहज ही में दूर कर देती है । साथ ही यदि दोनों समान रूप से शिक्षित हुए और दोनों में समाज के लिए उपयोगी काम–धन्धों में लगने की समान भावना समानता हुई तो सोने में सुगन्ध आ जाती है । अन्त में थोड़ी बहुत आर्थिक स्वतंत्रता और धार्मिक तथा सामाजिक साम्यता यदि उपलब्ध हो, तो वह वैवाहिक जीवन को सुखद बनाने में बड़े ही सहायक होते हैं ।

परन्तु बहुत कम ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो उपरोक्त आदर्श साधनों के साथ विवाह संबंध में प्रवेश करते हैं । यही कारण है कि जीवन में हमें अनेक बेजोड़ गठ–बन्धन जैसे किसी निर्दयी पुरुष और अबला स्त्री में, किसी जबरदस्त मर्दानी और स्त्रैण पुरुष में, किसी स्वतंत्र एवं साहसी पुरुष तथा कायर एवं मूर्ख स्त्री में, किसी स्वस्थ और मोटी स्त्री और सूखे हुए किताबी कीड़े पुरुष में, किसी बालिका और वृद्ध में, किसी अशिक्षित और गँवार स्त्री और शिक्षित पुरुष में, किसी सुन्दर युवक और कुरूप स्त्री या सुन्दर स्त्री और कुरूप पुरुष में देखने को मिलते हैं ।

अब यदि हम वैवाहिक असफलता के कारणों पर किंचित दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि बेजोड़ विवाह न होने पर भी लैंगिक विज्ञान और प्रेम कला की अनभिज्ञता वैवाहिक असफलता का एक प्रधान कारण है । जीवन के आरम्भ से ही हमें चलने, बोलने अभिवादन करने तथा कायदे के कपड़े पहिनने आदि की शिक्षा दी जाती है हमारी पढ़ाई–लिखाई के साथ–साथ हमें खेलने–कूदने, लोगों से मिलने–जुलने तथा अन्य सामाजिक शिष्टाचारों की शिक्षा दी जाती है । जीविकोपार्जन करके हम अपना निर्वाह कर सकें, इसके लिए कुछ उद्योगों की भी शिक्षा हमें दी जाती हैं, परन्तु शायद ही कोई ऐसा पुरुष या स्त्री हो, जिसे किसी कुशल शिक्षक द्वारा इस बात की शिक्षा दी गई हो कि एक सफल प्रेमी, आदर्श पति अथवा पत्नी कैसे बना जा सकता है ।

हमारे आधुनिक जीवन का अभिशाप यह है कि अश्लील आख्यानों से भरे हुए उपन्यासों, कामोद्दीपक चित्रों और लेखों से पूर्ण समाचार पत्रों तथा

लम्पटता पूर्ण दृश्यों में भरे हुए नाटकों और चलचित्रों की प्रबल धारा में बहकर हम अपने नौजवानों का दिमाग अनेक गलत धारणाओं से भर ही नहीं देते, वरन् उनकी स्वाभाविक एवं सामान्य काम–वृत्ति को बुरी तरह उत्तेजित और विकृत भी बना देते हैं । जहाँ एक तरफ हम अपने हाथों इतने उत्तेजित वातावरण की सृष्टि करते हैं, वहाँ दूसरी तरफ लैंगिक–ज्ञान (सैक्स) के ऊपर एक गुप्त और अपवित्रता का झूँठा पर्दा डालकर अपने बच्चों को जीवन की इस अमूल्य जानकारी से वंचित रखते हैं । जिस समय लड़की को यह विश्वास कराया जाता है कि उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य विवाह को सफल बनाना तथा एक सुन्दर घर बसाना है, कामवृत्ति और गर्भाधान संबन्धी अत्यन्त उपयोगी जानकारी उससे छिपा कर रखी जाती है । वैवाहिक जीवन को सफल बनाने के लिए इस अज्ञान को दूर करना आवश्यक है ।

वैवाहिक नैराश्य का दूसरा प्रधान कारण स्त्री और पुरुष के बीच प्रभुता और शान के लिए प्रतिद्वन्दिता है । इस प्रतिद्वन्दिता को आज हम बड़े स्पष्ट रूप में विशेष कर शिक्षित दम्पत्तियों में देख सकते हैं । कुछ अंशों में हम इसे उस आन्दोलन की शाखा कह सकते हैं जिसे आधुनिक शिक्षित नारी आज के शक्तिशाली पुरुष की निरंकुशता के विरुद्ध चला रही है । व्यक्तिवादी समाज के व्यापारिक कार्यों में एक जीवन–दायिनी शक्ति के रूप में प्रतिद्वन्दिता को चाहे हम जो भी महत्त्व दें, परन्तु प्रेम और वैवाहिक जीवन के लिए तो प्रतिद्वन्दिता मृत्यु के समान है अथवा छिपी हुई चट्टान है जिससे टकराकर अनेक विवाह विचूर्ण हो चुके हैं ।

लोग इसे एक मनोवैज्ञानिक आदेश की भाँति ग्रहण करें कि जिस भी व्यक्ति ने अपने स्त्री या पुरुष साथी पर प्रभुत्व जमाना चाहा या उसकी निन्दा की तथा उसके आत्म–सम्मान को ठेस पहुँचाई उसने सदा के लिए अपने वैवाहिक आनन्द पर कुठाराघात कर लिया ।

वास्तव में लोगों का वैवाहिक जीवन अधिक सफल होता यदि दम्पत्ति बाह्य आकर्षण और सुन्दरता पर आधारित प्रेम की बात कम सोचते तथा अपनी आर्थिक परिस्थिति, संतान पालन के सिद्धांत, खाली समय का पारस्परिक सदुपयोग, एक दूसरे की भावनाओं का समुचित ध्यान, साथ मिलकर जिम्मेदारी उठाने की योग्यता आदि आवश्यक विषयों पर गम्भीरतापूर्वक

विचार कर अपनी जीवन नौका को कुशलता के साथ खेते । कितनी विचित्र बात है कि यदि कोई आदमी व्यापार या साझेदारी में केवल इसलिए शामिल होने को लालायित हो उठता है कि उस व्यवसाय विशेष के दफ्तर की कुर्सी और मेज उसे बहुत पसन्द है तो लोग उसे बेवकूफ बनाते हैं, परन्तु यदि वही आदमी एक लड़की से केवल इसलिए शादी कर ले कि वह देखने में सुन्दर है, नाच अच्छा करती है तथा पार्टियों में जाने की शौकीन है तो उसके मित्र उसे बधाई देते नहीं थकते । ऐसे गुणों तथा बाह्य सुन्दरता और आकर्षण पर आधारित प्रेम बिल्कुल अस्थाई रहता है । अवस्था के साथ-साथ यौवन ढलने पर ऐसा प्रेम प्रायः हवा हो जाता है । प्रेम का सच्चा बन्धन तो आन्तरिक सुन्दरता पर अवलम्बित है । प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई गुण अवश्य होता है । दम्पत्ति को एक-दूसरे की आन्तरिक सुन्दरता और विशिष्ट गुणों कीखोज कर प्रेमपूर्वक जीवन निर्वाह करना चाहिए । हाँ विवाह बन्धन में फँसने से पूर्व इस बात का ध्यान रहे कि स्त्री और पुरुष दोनों में प्रत्येक दृष्टिकोण से अधिक से अधिक साम्य रहे । शुरू की जरा-सी भी जल्दबाजी और असावधानी सारे वैवहिक जीवन को दुःखद बना देती है ।

अन्त में यह बात ध्यान रखना आवश्यक है कि विवाहित जीवन को सुखमय बनाने का सबसे सुन्दर नियम वास्तव में यह है कि विवाह करने के पहले अपने साथी को भलीभाँति समझ लीजिए तथा विवाह के बाद उसे वही समझिए जो वह वास्तव में है और आदर्श कल्पना को त्याग कर उसी का सन्तोषपूर्वक प्रसन्नता के साथ उत्तम से उत्तम उपयोग कीजिए ।

वैवाहिक जीवन का उत्तरदायित्व

सांसारिक कार्यों में विवाह कदाचित सबसे अधिक उत्तरदायित्व का काम है । इसलिए वैवाहिक जीवन में प्रवृष्टि होने के पूर्व जितना ही अधिक सोच-विचार करके निर्णय किया जाय उतना ही उत्तम है । आजकल हर प्रकार से संतुष्ट, सन्तुलित, सुखी विवाहित जोड़े बहुत कम दिखाई पड़ते हैं, उसका कारण प्रायः यही होता है कि अधिकांश लोग प्रायः अज्ञान में अथवा आवेश में विवाह कर डालते हैं । आजकल के अनेक नवयुवक तो विवाह के पूर्व अपनी पत्नी के विषय में सिनेमा की प्रेम-'लीला जैसी सुमधुर कल्पनाएँ करके गगन-विहार किया करते हैं । उन्हें प्रायः विवाहित जीवन में

भारी निराशा का सामना करना पड़ता है । पश्चिमी देशों में तलाकों की संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि का एक मुख्य कारण भी यही है ।

इस मनोवृत्ति का शिक्षित युवक जब विवाह करता है तो उसके मन में अपनी पत्नी का एक आदर्श रूप उपस्थित रहता है । वह उसकी पुष्प–सी कोमल, चन्द्रमा–सी सुन्दर, विद्या में चतुर, संगीत–नृत्य विद्याओं में निपुण हर प्रकार से सरल साधु मीठे स्वभाव की कल्पना करता है । वह सिनेमा के चलचित्रों में कार्य करने वाली नर्तकियों को देखते–देखते एक ऐसा आदर्श मन में बना लेता है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकता । वह बड़ी–बड़ी आशाएँ लेकर वैवाहिक जीवन में प्रविष्ट होता है । मनोविज्ञान का यह अटूट नियम है कि दूर से स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री आकर्षक प्रतीत होते हैं । विवाह के कुछ मास एक प्रकार के उन्माद में बीत जाते हैं । तत्पश्चात उसका मन ऊबने लगता है । पुरुष स्वभाव से नवीनता का उपासक है । समीप में रहने वाली वस्तु उसे पुरानी, नीरस, आकर्षक विहीन, फीकी–सी प्रतीत होने लगती है । यही दाम्पत्य जीवन के असन्तोष का कारण है । जिसकी वजह से तलाक जैसी अप्रिय बातें होती हैं । इसी वृत्ति से संघर्ष कर उस पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है ।

विवाह से पूर्व स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री को देख लेने, परखने, उसके विषय में दूसरों से सलाह लेने, यदि सम्भव हो सके तो परीक्षा करने, हर प्रकार की सतर्कता, दूरदर्शिता बरतने की गुन्जायश है । वर–वधू को चाहिए कि झूँठी शर्म त्याग कर एक–दूसरे के गुण, कर्म, स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करें । एक जैसा न हो तो दूसरे साथी को उसका सन्तुलन करना होता है । एक–सी रुचि के दो व्यक्ति जीवन में सरलता से चल सकते हैं । एक शिक्षित तथा दूसरा अशिक्षित होने से अनेक बार दृष्टिकोण में विभिन्नता तथा कटुता उत्पन्न होकर दाम्पत्य माधुर्य को नष्ट कर देती है । अतएव वर–वधू को प्रारम्भ में अति सावधानी एवं सतर्कता बरतने की आवश्यकता है ।

अपने साथी के शरीर, मस्तिष्क, विचार तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कीजिए । वह नीरस प्रकृति का है या हँसमुख मजाकिया ? वह गम्भीर अध्ययनशील है या सदैव जल्दबाजी में रहने वाला या तीव्र भावों में बह जाने वाला । वह उदार है या संकुचित, जिद्दी, निश्चयी, पुरुषार्थी, मत्त या स्फूर्तिवान ? वह किसी कार्य को लगातार करता है या बीच में ही छोड़

भागने का अभ्यस्त है ? प्रेम के सम्बन्ध में उसके क्या विचार हैं ? उसकी आर्थिक स्थिति तथा आवश्यकताएँ कैसी हैं ? इन तथा इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों पर विवाह से पूर्व ही खूब देखभाल, विचार–विनिमय करने की आवश्यकता है ।

उत्तरदायित्व का निर्वाह

विवाह के पश्चात् आप पर एक बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है । पति को पत्नी के स्वास्थ्य, आराम, मानसिक तथा शारीरिक सुख का ध्यान रखना है, तथा पत्नी को पति के कार्य, पेशे, भोजन, मनोरंजन, बच्चों की देखभाल, गृह–प्रबन्ध इत्यादि में अपने पृथक–पृथक उत्तरादियत्व का निर्वाह करना है । पति का कार्यक्षेत्र अधिकतर घर के बाहर संघर्ष पूर्ण कार्यस्थल है जहाँ उसे जीविका उपार्जन करने के हेतु कठोर परिश्रम, कार्यदक्षता, कौशल प्रदर्शित करना होता है । उसका उत्तरदायित्व अधिक है, क्योंकि उसे जीविका कमाने का कार्य तत्परता से करना होता है । पत्नी अपने गृह–प्रबन्ध, मृदुल सहानुभूति पूर्ण व्यवहार तथा सौन्दर्य से घर को स्वर्ग बनाती है ।

हमें विवाहित जीवन में अपनी जिम्मेदारी निभानी है, अपने जीवन–साथी की निर्बलताओं को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से निकालना है, उसके स्थान पर उत्तम गुणों का समावेश करना है । हम सब तरह के असन्तोष को दूर करेंगे, परस्पर एक–दूसरे के दृष्टिकोण को समझेंगे, आपसी गलतफहमियों को न बढ़ने देंगे–यह मान कर दाम्पत्य जीवन में प्रविष्ट होना श्रेयस्कर है । यह समझाने की भावना सुखमय दाम्पत्य जीवन का मूलमंत्र है ।

कौन पति–पत्नी नहीं झगड़ते ? विचारों में अन्तर कहाँ नहीं है ? एक जैसे स्वभाव कहाँ मिलते हैं ? ऐसा कौन है जिसमें कमजोरियाँ, दुर्गुण, शारीरिक या मानसिक दुर्बलताएँ नहीं हैं । यदि आप एक–दूसरे की दुर्बलताओं पर कलह करेंगे तो अल्पकाल में असंतोष नामक महा भयंकार राक्षस आपका विवाहित जीवन कटु बना देगा । आपका सौन्दर्य और प्रेम पिपासु मन एक स्त्री की सुन्दरता छोड़ दूसरी, दूसरी से तीसरी, चौथी, दसवीं न जाने कहाँ–कहाँ मारा–मारा फिरेगा । मन की बागडोर ढीली न कीजिए । अपने जीवन साथी में ही सरलता, सौन्दर्य, कौशल, माधुर्य, खोज निकालिए, उसकी अपूर्णता को पूर्ण बनाइए । अशिक्षित है तो शिक्षित

कीजिए । पुस्तकें, समाचार–पत्र कहानियाँ, उपन्यास पढ़ाइए यदि स्वास्थ्य खराब है, तो स्वास्थ्य रक्षा, व्यायाम, पौष्टिक भोजन और दुश्चिन्ताओं को दूर कर उसे सुन्दर बनाइये, किन्तु उसे त्यागने का भाव कदापि मन में उदित न होने दीजिए । त्यागने की बात सोचना, एक–दूसरे की सहायता न करना, शील सौन्दर्य की अभिवृद्धि न करना, विद्या प्रदान न करना पति के लिए लज्जा के विषय हैं ।

एक विद्वान ने सुखमय विवाहित जीवन की कुञ्जी इन शब्दों में भर दी है । वे कहते हैं–'जिस प्रकार जिस उद्यान का माली उसका ध्यान नहीं रखता तो वहाँ घास–फूँस उग आती है, काँटे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जब पति–पत्नी दाम्पत्य प्रेम की सतर्कता और ध्यानपूर्वक रक्षा नहीं करते तो वे कटु भावों (मनोमालिन्य, ईर्ष्या, ऊँच–नीच का भाव, शिक्षा–अशिक्षा, सन्देह, गलतफहमी, असन्तोष, मानापमान) में परिवर्तित हो जाता है । प्रत्येक कार्य आलस्य, नीरसता, रोग, परपुरुष या परस्त्री का दाह के रूप में दाम्पत्य सुख को हानि पहुँचाने की धमकी देने लगता है ।

दो स्वर्णिम सूत्र–

इस स्थिति पर विजय प्राप्त करने के दो मार्ग हैं–प्रथम वह है जो दाम्पत्य जीवन का सच्चा सार है–अर्थात् यह दृढ़ प्रतिज्ञा और उसका निर्वाह कि 'कि हम दोनों पति–पत्नी एक–दूसरे का परित्याग नहीं करेंगे, हम प्रेम, सहानुभूति, त्याग, शील, आदान–प्रदान, सहायता के टूटे हुए प्रत्येक तार को गाँठ लेंगे । हम विश्वास, आशा, सहिष्णुता, अवलम्ब, उपयोगिता की गिरी हुई दीवार के प्रत्येक भाग की निरन्तर प्रयत्न और भक्ति से मरम्मत करेंगे, हम एक–दूसरे से माँफी माँगने, सुलह और समझौता करने को सदैव प्रस्तुत रहेंगे ।

दूसरा उपाय है पति–पत्नी की एक–दूसरे के प्रति अनन्य भावना । पति–पत्नी एक–दूसरे में लीन हो जायँ, समा जायँ, लय हो जाँय, अधीनता की भावना छोड़ स्वभाव की पूजा करें । विवाह का आध्यात्मिक अभिप्राय दो आत्माओं का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सम्बन्ध है । इसमें दो आत्माएँ ऐसी मिल जाती हैं कि इस पार्थिव जीवन तथा उच्च देवलोक में भी मिली रहती हैं । यह दो मस्तिष्कों, दो हृदयों, दो आत्माओं तथा साथ ही साथ दो शरीरों का एक–दूसरे में लय हो जाना है । जब तक यह स्वरैक्य

नहीं होता विवाह का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता । विवाहित जोड़े में परस्पर वह विश्वास और प्रतीति होना आवश्यक है, जो दो हृदयों को जोड़कर एक करता है । जब दो हृदय एक–दूसरे के लिए आत्म–समर्पण करते हैं, तो एक या दूसरे को कोई तीसरा व्यक्ति बिगाड़ने नहीं पाता है । केवल इस प्रकार ही वह आध्यात्मिक दाम्पत्य अनुराग सम्भव हो सकता है, जिसका समझना उन व्यक्तियों के लिए कठिन है, जो अपने अनुभव से इस प्रेम और समझौते के, इस पारस्परिक उत्तरदायित्व तथा सम्मान के, आसक्ति और आत्म–सन्तोष के, मानव तथा दिव्य प्रेरणाओं के विस्मयोत्पादक संयोग को जिसका नाम सच्चा विवाह है, नहीं जानते ।

गृहस्थ जीवन की सफलता

शास्त्रों में कहा है कि "न गृहं मित्याहु गृहिणी गृहं मुच्यते" घर को घर नहीं कहते वरन् गृहिणी को ही घर कहते हैं और लोक प्रसिद्ध है कि 'बिन घरनी घर भूत का डेरा ।' लोक और शास्त्र की बात का समर्थन व्यवहार द्वारा हो जाता है ।

मनुष्य जीवन का आधार प्रेम है । जहाँ प्रेम है वहाँ स्वर्ग है, सुख है । जिस घर में प्रेम नहीं वहाँ रहने की इच्छा ही नहीं होती, ठहरने की आकांक्षा नहीं रहती । प्रेम में एक आकर्षण है, एक खिंचाव है ।

जब तक मनुष्य अपनी ही अपनी बात सोचता है तब तक कहीं से भी उसे आकर्षण प्राप्त नहीं होता । आकर्षण या खिंचाव उसी समय उसे अनुभव होता है जब वह अपने को भूलकर औरों के प्रति अपना उत्सर्ग कर देता है । जब स्वार्थ को खत्म करके परम स्वार्थ की शरण लेता है ।

कौन मानव जानबूझकर दुःख की ओर कदम बढ़ाता है, परेशानी को मोल लेना चाहता है । जीवन का क्रम ही है–सुख की ओर बढ़ना, शान्ति की ओर चलना । लेकिन अपने सुख की चिन्ता नहीं, जब तक दूसरों के सुख की चिन्ता न होने लगे तब तक सुख पास नहीं आता । इसी से तो हम कहते हैं कि दूसरे के लिए त्याग करना ही मानव का परम स्वार्थ है । दूसरे के लिए सुख खोजने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने से अपने लिए सुख पाने का राजपथ तैयार किया जाता है । इस प्रवृत्ति का जनक है–गृहस्थ जीवन । वह एक ऐसी पाठशाला है जहाँ इस हाथ देकर उस हाथ पाने की तात्कालिक शिक्षा प्राप्त होती है ।

विवाहित जीवन के लिए एक नारी को पराये घर से लाते हैं, और अपना घर और उसकी ताली-कुञ्जी दे देते हैं, तो ठण्डी साँस लेते हैं। उसे उस घर की मालकिन बना देने पर ही मानवीय सुख की शुरूआत कर देते हैं और तब फिर पुरुष का सारा व्यापार अपने लिए न होकर उस नारी के लिए होता है, जो कि अपनी नहीं थी, पर जिसके लिए सब कुछ उत्सर्ग कर दिया गया। घर लाई हुई नारी को सुखी रखना एक मात्र यही कर्तव्य पुरुष का रह जाता है और इसका परिणाम यह होता है, कि वह आई हुई नारी अपना सर्वस्व पुरुष के प्रति समर्पित कर देती है। स्वयं भूखी रहकर भी वह पुरुष को तृप्त कर देना चाहती है। यह परस्पर का आत्म-समर्पण ही गृहस्थ जीवन के सुख की कुञ्जी है।

परन्तु यह सुख उस समय मिट्टी में मिल जाता है, जब एक दूसरे के प्रति त्याग की भावना समाप्त हो जाती है या समाप्त होने के लिए कदम बढ़ाती है। जब एक-दूसरे को शंका की नजर से देखते हैं या एक-दूसरे को अपने आधीन रखने के प्रयत्न में लग जाते हैं, आप जानते हैं, इसमें कौन-सी भावना काम करने लगती है ? वह भावना होती है दूसरे को कम देना और अधिक पाने की इच्छा रखना। यह इच्छा जिस दिन अंकुरित होती है, सुख और शान्ति की भावना का उसी दिन से तिरोभाव आरंभ हो जाता है और एक नया शब्द जन्म लेता है जिसके द्वारा दूसरे को अपने काबूमें रखने के लिए मानव चेष्टा करता है। वह शब्द है-अधिकार। अधिकार दूसरे से कुछ चाहता है परन्तु दूसरे को देने की बात भूल जाता है। इस माँग और भूख की लड़ाई में ही गृहस्थ जीवन का सुख विदा माँगना आरम्भ कर देता है।

हम पहले ही बतला चुके हैं कि प्रेम के जीवन में सुख है और प्रेम त्याग और समर्पण का पाठ पढ़ाता है। वहाँ अधिकार नामक शब्द का प्रवेश निषेध है। वहाँ तो एक ही शब्द जा सकता है जिसका पर्याय है कर्तव्य। अपना कर्तव्य करते चलो। जो तुम्हारा प्राप्य है अपने आप मिल जायेगा। लेकिन कर्तव्य की बात भूलकर प्राप्य की बात को सामने रखने से प्राप्य के प्राप्त करने में कठिनाई रहती है। समस्त झगड़े-बखेड़ों की यही एक मात्र जड़ है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि दुनियाँ का कार्य स्वयं ही

आदान-प्रदान से चल रहा है, जब कुछ दिया जाता है तब तुरन्त ही कुछ मिल जाता है । देना बन्द होते ही मिलना बन्द हो जाता है । इसलिए लेने की आकांक्षा होने पर देने की भावना पहले बना लेना आवश्यक होता है । अधिकार में लेने की भावना भरी रहती है, देने की नहीं । इसलिए आपस का प्रेम कम होना आरम्भ हो जाता है । जिस दिन ये अधिकार की लालसा गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हो जाती है, गृहस्थ जीवन कलह का अखाड़ा बन जाता है । आज यही कारण है कि अधिकांश मानव इसी के शिकार हो रहे हैं और अपने जीवन को अशान्त और दुःखी बनाये हुए हैं । अपने ही हाथों उन्होंने अपनी सुख-सुविधा को लात मार दी है ।

अधिकार की मंशा है दूसरों को अपने अधीन रखना, अपनी इच्छा के अधीन रखना, अपने सुख का भोग या यन्त्र बनाना । जब किसी भावना का प्रवाह एक ओर से चलना आरम्भ हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर से भी होना आरम्भ हो जाती है । जब एक-दूसरे को अपने भोग का यंत्र बनाना चाहता है तो दूसरा भी पहले को यंत्र बनाने की धुन में लग जाता है ।

पुरुष ने जिस दिन से स्त्री को अपने भोग का उपकरण बनाना विचारा, उसी दिन से स्त्री ने भी पुरुष को अपनी तृप्ति का साधन बनाने की ठानी । एक-दूसरे को सुख देने, प्रसन्न रखने की भावना का लोप हो गया । प्रेम की जगह भोग ने आश्रय लिया । घरनी की जगह रमणी की प्रतिष्ठा हुई और घर भूत का डेरा बनने लगा । गृहिणी जो आत्म-साधिका थी, लिपस्टिक, जम्फर, जार्जेट, विलायती तरीके के जूतों की साधिका बनी । दिखावट बढ़ी, रुपयों की माँग बढ़ी, स्वच्छन्दता बढ़ी । और पुरुष ने उसे दबाकर रखने की माँग को बढ़ाया । इस तरह गृह कलह जन्मा, भोग और अधिकार के प्रश्न ने सेवा को खोया, प्रेम को खोया और आज घर-घर में चिताएँ जल रही हैं ।

एक युग था पति के बिना नारी घर में न रह सकती थी, पति के सुख को ही अपना सुख मानने वाली नारी पति के साथ वन जाकर-

भूमि शयन, बल्कल वसन, असन कन्द फलमूल ।
तेकि सदा सब दिन मिलहिं, समय-समय अनुकूल ।।

पाकर भी वन में सुखी रहीं और आज अधिकार का प्रश्न उठाने

वाली महल में स्वच्छन्द रहने पर भी एक टीस, एक वेदना लिए जिन्दा हैं ।

भावना बदलते ही जिन्दगी बदल गई । जिन्दगी की तृप्ति और शान्ति दोनों बिदा ले गये । मानव जीवन का जो श्रेयस्कर मार्ग था उसे छोड़कर भ्रष्ट पथ होने का पुरष्कार हजारों नर–नारी रात–दिन भोग रहे हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें फिर से आर्य–पथ पर चलने की तैयारी करनी चाहिए ।

अधिक माँगने से नहीं, देने से मिलता है । कर्तव्य कर्म करने से स्वयं उसका बदला मिल जाता है । भारतीय दर्शन में "कर्तव्य" का नाम ही धर्म है । पुरुष धर्म और नारी धर्म दोनों का आदि स्रोत समर्पण है । दोनों की भावनाओं में, दिल में और दिमाग में समर्पण की, उत्सर्ग की भावना के बीजों को आरोपित करने से फिर से शान्ति, तृप्ति और सुख का समावेश हो जायेगा–विवाहित जीवन का जो उद्‌देश्य है वह सफल होगा ।

दाम्पत्य–जीवन में कलह से बचिए

अनेक परिवारों में स्त्री पुरुषों के मध्य वैसे मधुर संबंध नहीं देखे जाते जैसे कि होने चाहिए । अनेकों घरों में आये दिन संघर्ष, मनोमालिन्य और अविश्वास के चिन्ह परिलक्षित होते रहते हैं । कारण यह है कि पति–पत्नी में से एक या दोनों ही केवल अपनी–अपनी इच्छा, आवश्यकता और रुचि को प्रधानता देते हैं । दूसरे पक्ष की भावना और परिस्थितियों को न समझना ही प्रायः कलह का कारण होता है ।

जब एक पक्ष दूसरे पक्ष की इच्छानुसार आचरण नहीं करता तो उसे यह बात अपना अपमान, उपेक्षा या तिरष्कार प्रतीत होती है, जिससे चिढ़ कर वह दूसरे पक्ष पर कटुवाक्यों का प्रहार या दुर्भावनाओं का आरोपण करता है । उत्तर–प्रत्युत्तर, आक्रमण–प्रत्याक्रमण, आक्षेप–प्रत्याक्षेप का सिलसिला चल पड़ता है तो उससे कलह बढ़ता ही जाता है । दोनों में से कोई अपनी गलती नहीं मानता, वरन् दूसरे को अधिक दोषी सिद्ध करने के लिए अपनी जिद को बढ़ाते रहते हैं । इस रीति से कभी भी झगड़े का अन्त नहीं हो सकता । अग्नि में ईंधन डालते जाने से तो और भी अधिक प्रज्ज्वलित होती है ।

जो पति–पत्नी अपने संबंधों को मुधर रखना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि दूसरे पक्ष की योग्यता, मनोभूमि, भावना, इच्छा, संस्कार, परिस्थिति एवं

आवश्यकता को समझने का प्रयत्न करें और उस स्थिति के मनुष्य के लिए जो उपयुक्त हो सके ऐसा उदार व्यवहार करने की चेष्टा करें, तो झगड़े के अनेकों अवसर उत्पन्न होने से पहले ही दूर हो जावेंगे । हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि सब मनुष्य एक समान नहीं हैं, सबकी रुचि एक समान नहीं है, सबकी बुद्धि, भावना और इच्छा एक जैसी नहीं होती । भिन्न वातावरण, भिन्न परिस्थिति और भिन्न कारणों से लोगों की मनोभूमि में भिन्नता हो जाती है । यह भिन्नता पूर्णतया मिटकर दूसरे पक्ष के बिल्कुल समान हो जावे यह हो नहीं सकता । कोई स्त्री—पुरुष आपस में कितने ही सच्चे क्यों न हों, उनके विचार और कार्यों में कुछ न कुछ भिन्नता रह ही जायगी ।

अनुदार स्वभाव के स्त्री—पुरुष कट्टर एवं संकीर्ण मनोवृत्ति के होने के कारण यह चाहते हैं कि हमारा साथी हमारी किसी भी बात में तनिक भी मतभेद न रखे । पति अपनी पत्नी को पतिव्रत का पाठ पढ़ाता है और उपदेश करता है कि तुम्हें पूर्ण पतिव्रता, इतनी उग्र पतिव्रता होना चाहिए कि पति की किसी भी भली बुरी विचारधारा, आदत कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप न हो । इसके विपरीत स्त्री अपने पति से आशा करती है कि पति के लिए भी यह उचित है कि स्त्री को अपना जीवन—संगी, आधा अंग समझकर उसके सहयोग एवं अधिकार की उपेक्षा न करे । यह भावनाएँ जब संकीर्णता और अनुदारता से संमिश्रित होती हैं तो एक पक्ष सोचता है कि मेरे अधिकार को दूसरा पक्ष पूर्ण नहीं करता । बस यहीं से झगड़े की जड़ आरम्भ हो जाती है ।

इस झगड़े का एक मात्र हल यह है कि स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को अपने मन की अधिकाधिक उदार भावना से बरतें । जैसे किसी व्यक्ति का एक हाथ या एक पैर कुछ कमजोर, रोगी या दोषपूर्ण हो तो वह उसे न तो काट कर फेंक देता है, न कूट डालता है और न उससे घृणा, असंतोष, विद्वेष आदि करता है अपितु उस विकृत अंग को अपेक्षाकृत अधिक सुविधा देने और उसके सुधारने के लिए स्वस्थ भाग की भी थोड़ी उपेक्षा कर देता है । यही नीति अपने कमजोर साथी के प्रति बरती जाय तो झगड़े का एक भारी कारण दूर हो जाता है ।

झगड़ा करने से पहले आपसी विचार—विनिमय के सब प्रयोगों को अनेक बार कर लेना चाहिए । कोई वज्र मूर्ख और घोर दुष्ट प्रकृति के मनुष्य तो ऐसे हो सकते हैं जो दण्ड के अतिरिक्त और किसी वस्तु से नहीं

समझते, पर अधिकांश मनुष्य ऐसे होते हैं जो प्रेम भावना के साथ, एकान्त स्थान में सब ऊँच–नीच समझाने से बहुत कुछ समझ और सुधर जाते हैं । जो थोड़ा–बहुत मतभेद रह जाय उसकी उपेक्षा करके उन बातों को ही विचार क्षेत्र में आने देना चाहिए जिनमें मतैक्य है । संसार में रहने का यही तरीका है कि एक–दूसरे के सामने थोड़ा–थोड़ा झुका जाय और समझौते की नीति से काम लिया जाय । महात्मा गाँधी, उच्चकोटि के आदर्शवादी और संत थे, पर उनके ऐसे भी अनेकों सच्चे मित्र थे जो उनके विचार और कार्यों से मतभेद ही नहीं विरोध भी रखते थे । यह मतभेद उनकी मित्रता में बाधक न होते थे । ऐसी ही उदार समझौतावादी नीति के आधार पर आपसी सहयोग संबंधों को कायम रखा जा सकता है ।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि साथी में दोष, दुर्गुण, हों उनकी उपेक्षा की जाय और उन बुराइयों को अबाध रीति से बढ़ने दिया जाय । ऐसा करना तो एक भारी अनर्थ होगा । जो पक्ष अधिक बुद्धिमान, विचारशील एवं अनुभवी है उसे अपने साथी को सुसंस्कृत, समुन्नत, सद्गुणी बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए । साथ ही अपने आपको भी ऐसा मधुर भाषी, उदार, सहनशील एवं निर्दोष बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए कि साथी पर अपना समुचित प्रभाव पड़ सके । जो स्वयं अनेक बुराइयों में फँसा हुआ है वह अपने साथी को सुधारने में सफल कैसे हो सकता है ? सती सीता परमसाध्वी उच्चकोटि की पतिव्रता थीं, पर उनके पतिव्रता होने का एक कारण यह भी था कि वे एक पत्नी व्रतधारी अनेक सद्गुणों से सम्पन्न राम की धर्मपत्नी थीं । रावण स्वयं दुराचारी था उसकी स्त्री मंदोदरी सर्वगुण सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान होते हुए भी पतिव्रता न रह सकी । रावण के मरते ही उसने विभीषण से पुनर्विवाह कर लिया ।

जीवन की सफलता, शान्ति, सुव्यवस्था इस बात पर निर्भर है कि हमारा दाम्पत्य जीवन सुखी और संतुष्ट हो । इसके लिए आरम्भ में ही बहुत सावधानी बरती जानी चाहिए और गुण, कर्म एवं स्वभाव की समानता के आधार पर लड़के–लड़कियों के जोड़े चुने जाने चाहिए । अच्छा चुनाव होने पर भी पूर्ण समता तो हो नहीं सकती, इसलिए हर एक स्त्री–पुरुष के लिए इस नीति को अपनाना आवश्यक है कि अपनी बुराइयों को कम करे, साथी के साथ मधुरता, उदारता और सहनशीलता का आत्मीयतामय व्यवहार करे,

साथ ही उसकी बुराइयों को कम करने के लिए धैर्य, दृढ़ता और चतुरता के साथ प्रयत्नशील रहे । इस मार्ग पर चलने से असंतुष्ट दाम्पत्य जीवनों में संतोष की मात्रा बढ़ेगी और संतुष्ट दम्पत्ति स्वर्गीय जीवन का आनन्द उपलब्ध करेंगे ।

विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन

अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करने के समान, विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना सम्भव है, वरन् बहुत हद तक सुगम भी है । जो लोग विवाहित हैं, उन्हें समझना चाहिए कि पत्नी गृहस्थ धर्म का मूल है । उसे कामोपभोग की सामग्री या ब्रह्मचर्य का विघ्न समझना भूल है ।

साधारणतया पत्नी से दूर रहने से नारी जाति के प्रति वासनामय विचारों की सृष्टि होती है । दूरी में सदैव एक आकर्षण रहता है जो समीपता में नष्ट हो जाता है । जिन्हें दाम्पत्य जीवन अप्राप्य है उन्हें वह अप्राप्य वस्तु बड़ी आकर्षक और सरस दीखती है और उसकी प्राप्ति के लिए उनके मनःक्षेत्र में बड़ी घुड़दौड़ मचती रहती है, किन्तु जो पति-पत्नी साथ-साथ रहते हैं वे यदि चाहें तो स्वाभाविक और सरल जीवन व्यतीत करते हुए उन विकारमय विचारों से सहज ही बच सकते हैं ।

जब तक परीक्षा की कसौटी न हो तब तक यह नहीं जाना जा सकता कि किस की साधना किस हद तक परिपक्व हो चुकी है । जो लोग अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनकी निष्ठा किस हद तक परिपक्व हो चुकी है इसका ठीक प्रकार पता नहीं चलता । वे प्रलोभन के समय फिसल सकते हैं, परन्तु जो प्रलोभन से नित्य संघर्ष करते हैं उन्हें पता रहता है कि वे कितने संयमशील हो चुके हैं । साधन सामने रहते हुए भी जो त्याग कर सकता है उसी का त्याग परीक्षित है । अभाव को त्याग मान कर सन्तोष कर लेना, एक कच्चा आधार ही रहता है ।

पति-पत्नी यदि वासना पर विजय प्राप्त करते हुए सयंमशील जीवन बितावें तो वासना के स्थान पर एक अत्यन्त शक्तिशाली आध्यात्मिक तत्त्व का आविर्भाव होता है जिसे 'पतिव्रत' कहते हैं । यह तत्त्व दाम्पत्य जीवन की पूर्णता, पारिवारिक सुव्यवस्था, उत्तम संतति एवं आत्म शान्ति के लिए बहुत ही उपयोगी एवं आवश्यक होता है । यह तत्व मानव जीवन की एक अपूर्णता को पूरा कर देता है ।

द्वैत को मिटाये बिना, अद्वैत की प्राप्ति नहीं हो सकती । स्त्री से दूर रहने वाला, उससे घृणा करने वाला व्यक्ति, उसे अपने से भिन्न एवं विपरीत मानता है । ऐसी दशा में उसकी द्वैत बुद्धि मजबूत होती जाती है और उसे अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति में भारी बाधा दिखाई देती है । अद्वैत की प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी (अर्धांगिनी) को अभिन्न मानने की आवश्यकता है । जैसे अपने ही सौन्दर्य पर कोई मोहित नहीं होता, जैसे अपने आपसे स्वयं ही वासना पूर्ति करने के भाव नहीं आते वैसे ही यदि पत्नी को अभिन्न मान लिया जाय तो वह बाधा सहज ही दूर हो जाती है, जिसके भय से ब्रह्मचारी लोग दूर-दूर भागते फिरते हैं । अपनी अर्धांगिनी को आत्मरूप समझना अद्वैत तत्व की प्रारम्भिक साधना है । इसमें परीक्षित हो जाने पर आत्म-भावना का विश्व व्यापी विस्तार करना सुगम होता है ।

शुद्ध 'प्रेम' को परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप कहा है । यह प्रेम नर-नारी के पवित्र मिलन से सुगमतापूर्वक और अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है । माता का पुत्र में, बहिन-भाई में, पति-पत्नी में जितने विशुद्ध प्रेम का उद्रेक होता है, उतना पुरुष-पुरुष में या स्त्री-स्त्री में नहीं होता । प्रकृति ने उभय लिंग के प्राणियों के सम्मिलन में एक सहज प्रेम धारा छिपा रखी है । यदि उसे स्वार्थपरता या वासना से दूषित न किया जाय तो प्रकृति प्रदत्त एक स्वर्गीय निर्झरिणी के अमृत जल का रसास्वादन हर आत्मा कर सकती है । यह समझना भारी अज्ञान है कि काम सेवन से ही दाम्पत्य प्रेम बढ़ता है । सच बात तो यह है कि संयमी आत्मा ही 'प्रेम' को उत्पन्न कर सकती है और उसके रसास्वादन का आनन्द ले सकती हैं ।

काम को 'मनसिज' कहा है । यह विकार मन में उत्पन्न होता है और यहीं से संहार लीला प्रारम्भ करता है । मन से यदि काम चिंतन करते रहा जाय और शरीर से ब्रह्मचर्य रखा जाय तो उसका कोई विशेष लाभ न होगा क्योंकि मन में उत्पन्न होने वाली वासना से मानसिक व्यभिचार होता रहेगा और अत्मिक बल संचय न हो सकेगा । उसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति साधारण ग्रहस्थ धर्म का पालन करता है और मन से निर्विकार रहता है तो उसका थोड़ा-सा शारीरिक स्खलन उतना हानिकारक नहीं होता, जितना कि अविवाहित का मानसिक उद्वेग । यों शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का संयम रखा जाय तो सर्वोत्तम है ।

'अर्धांगिनी' और 'धर्मपत्नी' यह दोनों ही शब्द आत्मिक पूर्णता और धर्म प्रतिपालन के अर्थ बोधक हैं । पत्नी इन दोनों कार्यों में सहायक होती है, इसलिए उसे अभिन्न अंग एवं जीवन सहचरी माना है । कामिनी, रमणी, रूपसी आदि की विकार ग्रस्त दृष्टि स्त्री के प्रति रखना नारी जाति के प्रति अपराध एवं अपमान व्यक्त करना है । स्वाभाविक एवं सरल दृष्टिकोण अपनाकर नारी को एक सच्चा साथी, मित्र एवं आत्म–भाग माना जाय तो उससे जिस प्रकार सांसारिक जीवन में सुविधा मिलती है, वैसे ही आत्म–कल्याण के मार्ग में भी भारी सहयोग मिल सकता है । स्त्री ब्रह्मचर्य की बाधा नहीं । वह असंयम के विकारों को अनियंत्रित नहीं होने देती और मनुष्य को सुसंयत जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करती है ।

पत्नी का सदैव सम्मान कीजिए

बहुत से व्यक्ति अपने को स्त्री से बड़ा समझकर अथवा लापरवाही से अपनी पत्नियों के साथ शिष्टता का व्यवहार करना अनावश्यक समझते हैं, पर यह एक बड़ी भूल है । जो लोग अपने दाम्पत्य–जीवन को सफल बनाने के इच्छुक हों उनको सदैव अपनी पत्नी के प्रति सम्मान युक्त व्यवहार और वार्तालाप करना चाहिए । जो पुरुष उससे कठोर व्यवहार करते हैं, अपनी आश्रित समझकर तिरस्कार करते हैं, उनकी बेइज्जती करते रहते हैं, वे अश्लील हैं । गुप्त मन में उनकी स्त्रियाँ उन्हें दुष्ट राक्षस–तुल्य समझती हैं । ऐसा प्रसंग ही मत आने दीजिए कि नारी को मारने–पीटने का अवसर आये । उसे अपने आचार, व्यवहार, प्रेम भरे सम्बोधन से पूर्ण सन्तुष्ट रखिए ।

पत्नी की भावनाओं की रक्षा, उसके गुणों का आदर, उसके शील, लज्जा, व्यवहार की प्रशंसा मधुर सम्बन्धों का मूल रहस्य है । पत्नी आपकी जीवन सहचरी है । अपने सद्व्यवहार से उसे तृप्त रखिये ।

पत्नी, पति की प्राण है, पुरुष की अर्धांगिनी है, पत्नी से बढ़कर कोई दूसरा मित्र नहीं, पत्नी तीनों फलों–धर्म, अर्थ, काम को प्रदान करने वाली है और पत्नी संसार सागर को पार करने में सबसे बड़ी सहायिका है । फिर, किस मुँह से आप उसका तिरस्कार करते हैं ?

उससे मधुर वाणी में बोलिए । आपके मुँह पर मधुर मुस्कान हो, हृदय में सच्चा निष्कपट प्रेम हो, वचनों में नम्रता, मृदुलता, सरलता और प्यार हो । स्मरण रखिये, स्त्रियों का 'अहं' बड़ा तेज होता है, वे स्वाभिमानी,

आत्माभिमानी होती हैं । तनिक-सी अशिष्टता या फूहड़पन से क्रुद्ध होकर आपके सम्बन्ध में घृणित धारणाएँ बना लेती हैं । उनकी छोटी-मोटी माँगों या फरमाइशों की अवहेलना या अवज्ञा न करें । इसमें बड़े सावधान रहें । जो स्त्री एक छोटे ये उपहार से प्रसन्न होकर आपकी दासता और गुलामी करने को प्रस्तुत रहती है, उसके लिए सब कुछ करना चाहिए । अतः पत्नी का आदर करें, उसके सम्बन्ध में कभी कोई अपमान सूचक बातें मुँह से न निकालें और उनकी उपस्थिति में या अनुपस्थिति में उनकी हँसी न करें ।

स्त्रियोचित शिक्षा की आवश्यकता

पत्नियों को वास्तविक अर्थ में गृह-लक्ष्मी बनाने के लिए उपयुक्त शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है । शिक्षा के प्रभाव से ही मनुष्य का मस्तिष्क और मन विकसित होता है और वह अपने कर्तव्यों को पूरा करने योग्य बन सकता है । जीनव संघर्ष में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का सम्पर्क अधिक होता है । पुरुष का काम तो कमाई के क्षेत्र तक ही सीमित है लेकिन स्त्रियाँ तो समाज का निर्माण करती हैं इसलिए यदि स्त्रियों की वास्तविक शिक्षा न हुई तो समाज में अशान्ति का वातावरण फैलना स्वाभाविक है । इसलिए पुरुषों की शिक्षा की अपेक्षा स्त्रियों की शिक्षा का महत्व अधिक है ।

नारी को यदि रमणी बनाना हो तो कल्पना मूलक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन नारी का चरम लक्ष्य माँ बनना है । नारी समाज की निर्माता है, समाज में भाई, पिता, पुत्र और बहिन, पत्नी, पुत्री रहते हैं । इसलिए घर में रहते हुए इन सबके यथायोग्य निर्माण का काम नारी को करना है । क्योंकि ये सबही आगे जाकर समाज के सदस्य बनेंगे और समाज संगठन में इनका व्यापक हाथ रहेगा, इसलिए यदि उनमें पिता, पुत्र, भाई, बहिन, माँ और पत्नी की कर्तव्यमूलक भावना जाग्रत होगी तो यह दुनियाँ थोड़े दिनों में ही नन्दनवन बनकर चारों ओर शान्ति का प्रवाह प्रवाहित कर सकेगी ।

बालपन की जिन्दगी पराश्रित जिन्दगी होती है, इसमें उसके सिर पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी नहीं होती यहाँ तक कि खाना और खेलना ये ही दो काम रहते हैं । लेकिन जीवन में बालपन ही नहीं रहता, जवानी भी आती है और बुढ़ापा भी आता है । ऐसा समय भी आता है, जब कि जीवन

की शक्तियाँ विकसित होती हैं और जबाव भी दे जाती हैं । इसलिए जो शिक्षा शक्तियों का व्यावहारिक उपयोग करना सिखाती है, जीवन के संघर्ष में विजय दिलाती है, वही जीवन निर्माण और शान्ति का कारण होती है ।

आजकल स्त्रियों को जो शिक्षा दी जाती है, उससे भावनाओं और वासनाओं को तो उत्तेजन मिलता है लेकिन कर्मठता एवं कर्तव्य के लिए कोई स्थान नहीं होता । इसका परिणाम यह निकल रहा है कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ स्कूल तथा कॉलेजों से एक इस प्रकार के कल्पनामय जगत को लेकर बाहर आती हैं जिसका निर्माण करना उन्हें नहीं सिखाया गया है । जिन्हें यदि कुछ सिखाया गया है तो उपभोग करना । बिना निर्माण किए उपभोग के लिए स्थान ही कहाँ हो सकता है ? लेकिन उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं होता । परसी हुई पातर पर खाने की कल्पना के कारण जब उन्हें परसी हुई पत्तल नहीं मिलती तो वे बौखला उठती हैं और अपनी जिम्मेदारियों से बचती हुई अपने लिए दुःखों की अजेय सुदृढ़ दीवार खड़ी कर लेती हैं ।

अनेक शिक्षित स्त्रियाँ विवाह बन्धन से बचना चाहती हैं । विवाह को वे पुरुष के अधीन होना मानती हैं, जबकि किसी के अधीन होकर रहना उन्हें सिखाया ही नहीं जाता । लेकिन भारतीय वातावरण में बिना विवाह किए रहना सम्भव नहीं है, इसलिए जबरदस्ती विवाह के फन्दे में फँस जाने के कारण जीवन भर उनमें छटपटाहट भरी रहती है । आनन्द के स्रोत विवाहित जीवन को वे दुःख से भर डालती हैं और जिस घर को स्वर्ग बनाकर जहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहिए वहाँ कल्पना जगत में विचरण करने के कारण उस घर को नरक बना देती है । साथ ही जीवन भर तड़फते-तड़फते अपनी जीवन लीला समाप्त कर डालती हैं ।

धर्मशास्त्रों और विद्वजनों का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि गृहस्थ-जीवन का और इस दृष्टि से मनुष्य-समाज का सुचारु रूप से संचालन, सद्गुणी पत्नियों पर ही आधारित है । इसलिए स्त्रियों को सुयोग्य गृहिणी बनाना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनको उचित साधन और अधिकार देना हमारा परम कर्तव्य है । समाज का कल्याण मुख्य रूप से कर्तव्य परायण पत्नियों पर ही निर्भर है ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)